REVIEW OF RESEARCH

भारतेन्दु रंगमंच : रसास्वादन की अपूर्व संघटना

डॉ. कुसुम नेगी

हिन्दी विभाग, एस.एम.जे.एन.(पी.जी.) कॉलेज, हरिद्वार

ISSN: 2249-894X
IMPACT FACTOR : 5.7631(UIF)
UGC APPROVED JOURNAL NO. 48514
VOLUME - 8 | ISSUE - 8 | MAY - 2019

सारांश

समस्त मानवों के हृदय में व्याप्त रस एक ऐसी अनुभूति है जो मानव को आनन्द की स्थिति तक ले जाती है। जब रस से मानव हृदय आह्लादित होता है तब मानव यह नहीं देखता कि यह रस की कौन (खुशी, गम, करूणा, जुगुप्सा, रोद्र, भय, शान्ति आदि) सी स्थिति है। अर्थात यहाँ मस्तिष्क से विचार नहीं किया जा सकता, यहाँ तो हृदय की गहन आनन्दानुभूति ही स्फुरित होती है। भारतेन्दु एक संवेदनशील कवि थे, और वे रस की सम्पूर्ण स्थितियों से विज्ञ थे, इसलिए उन्होंने अपने काव्य नाटाकों के माध्यम से रसानुभूति को अभिव्यक्ति प्रदान की है।

प्रस्तावना :–

रस अन्तःकरण की वह शक्ति है, जिसके कारण इन्द्रियाँ अपना कार्य करती हैं, मन कल्पना करता है, स्वप्न की स्मृति रहती है। रस आनन्द रूप है और यही आनन्द विशाल और विराट का अनुभव देते हुए सभी अनुभवों का अतिक्रमण भी है। व्यक्ति इन्द्रियों पर संयम रखता है तो विषयों से अपने आप हट जाता है, परन्तु उन विषयों के प्रति लगाव नहीं छूटता, भले ही सब कुछ नष्ट हो जाये, व्यर्थ हो जाये, पर जो भाव रूप तथा वस्तु रूप में बचा रहे, वही रस है। रस अपूर्व की उत्पत्ति है। नाट्य की प्रस्तुति में सब कुछ सुना हुआ या देखा हुआ अर्थात् जानकारी पहले से ही ज्ञात रहती है, लेकिन रंगमंच पर प्रस्तुति के दौरान कुछ नया अनुभव अवश्य ही प्राप्त होता है। वह अनुभव दूसरे अनुभवों को पीछे छोड़ता हुआ अकेले ही एक शिखर तक पहुँचा देता है। रस का यह अपूर्व रूप अप्रमेय और अनिर्वचनीय है। एक प्रसिद्ध सूक्त है, **''रसौ वै सः।''**[1] अर्थात् वह परमात्मा ही रस रूप आनन्द है। इसी बात को अन्तःकरण से स्वीकारते हुए भारतेन्दु ने दृश्य काव्य में रस की सर्वोपरिता का उल्लेख किया है। उन्होंने भाषा को गौण मानकर रस को उसका उपकारक माना है और यह प्रतिपादित किया है कि रस के अभाव में उत्तम से उत्तम भाषा भी सहृदयी व्यक्ति को आकृष्ट करने में असमर्थ रहती है तथा रस सिद्ध साधारण भाषा ही रचना में सौन्दर्य की सृष्टि करती है–

''जामै रस कछु होत है, पढत ताहि सब कोय
बात अनूठी चाहिए भाषा कोऊ होय।''[2]

इन पंक्तियों से ध्वनित है कि रस नाटक का अनिवार्य धर्म है, जिस भाँति नित नूतन जल से पूर्ण मेघखण्ड को देखकर दर्शक का मन मयूर नृत्य करने लगता है, उसी प्रकार काव्य में भी नित नूतन रस की उपस्थिति रसिकों के हृदय को आह्लादित करती है। भारतेन्दु ने साहित्य तथा संगीत की आत्मविभोर करने की क्षमता का उल्लेख करके अप्रत्यक्ष रूप में साहित्य की रस सिद्धता की ओर संकेत किया है। 'श्री चन्द्रावली नाटिका' में नायिका की यह उक्ति इसी ओर इंगित करती है **''संगीत और साहित्य में भी कैसा गुन होता है कि मनुष्य तन्मय हो जाता है।''**[3]

अर्थात् रसदशा वस्तुतः हृदय की तन्मयता अथवा आत्मलीनता की स्थिति का ही पर्याय है। अतः वही साहित्य उच्चकोटि का होगा जिसके अनुशीलन से सहृदयी रसमग्न हो जाये। सर्जनात्मक साहित्य का ही एक रूप होने के कारण नाटक के सम्बन्ध में भी यह सिद्धान्त स्वीकार्य

है। रस की उपयोगिता को काव्य द्वारा अच्छी तरह समझा जा सकता है, क्योंकि उसकी धुन, लय, ताल व संगीत व्यक्ति को झूमने व तन्मय करने में महती भूमिका निभाता है। इसलिए भारतेन्दु ने अपने नाटकों में काव्य का भी सहारा लिया है, ताकि रंगमंच पर यह प्रस्तुति और भी अधिक निखर कर जनता के समक्ष आये। जिससे वह तन्मय होकर आनन्द को प्राप्त करे, साथ ही भारतेन्दु द्वारा दिये गये उपदेश व सीख को वे अपने जहन में उतारें। इसके कारण प्रत्येक देशवासी उन्नति, विकासशील, चेतनाशील व जागरूकता की राह अपनाकर अपने अधिकारों एवं कर्तव्यों को भलीभाँति समझेगा। भारतेन्दु के नाटकों में ऐसी रस योजना को देखकर गुलाब राय ने कहा है, **''रस के बिना जब काव्य ही नहीं तो नाटक कहाँ।''**[4]

संस्कृत काव्यशास्त्र में भी काव्य की सृष्टि नहीं हुई थी, उस दौर में नाटकों का ही आयोजन किया जाता था और वहीं रस की विस्तृत विवेचना हुई है। अतः नाट्य और काव्य रचना में रस दशा की इस स्थिति के सम्बन्ध में भारतीय आचार्यों का मत मान्य है। इसमें किसी प्रकार के संशोधन या परिवर्तन की कोई आवश्यकता नहीं है। इस पर विचार करते हुए भारतेन्दु ने परिपाटी विहित रसों (श्रृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, विभत्स, भयानक, अद्भुत, वीर) को स्वीकार किया, लेकिन अन्य संस्कृत आचार्यों (मम्मट, हेमचन्द्र, विश्वनाथ, जगन्नाथ) ने आठ रसों के साथ शान्त रस को स्वतंत्र रूप से स्वीकार किया। इन्हीं की तरह भारतेन्दु ने भी नौ रसों को मान्यता दी और अन्य पाँच रसों (1. भक्ति व दास्य, 2. प्रेम या माधुर्य, 3. सख्य, 4. वात्सल्य, 5. प्रमोद या आनन्द) को भी मान्यता दी। भारतेन्दु ने वीर रस के भेदों का निरूपण करते हुए मौलिक चिन्तन का परिचय दिया है। उन्होंने वीर रस के चार प्रकार बताये हैं– 1. दानवीर, 2. सत्यवीर, 3. युद्धवीर, 4. उद्योगवीर। अतः उन्होंने नवीन रसों की उद्भावना का अभिनय प्रयास किया है। तथापि रस सम्बन्धी उनकी मान्यता अतिव्याप्ति दोष से आक्रान्त भी मानी जाती है। अयोध्या सिंह उपाध्याय ने भारतेन्दु द्वारा उल्लिखित नवीन रसों को भक्ति रस में अन्तर्भूत किया है–''भारतेन्दु जी ने जिन नवीन रसों की चर्चा अपने लेख में की है, लगभग इन सबका अन्तर्भाव भक्ति से हो जाता है।''[5]

अतः अतिरिक्त रसों की अलग व्याख्या करना फिजूल के कार्य को बढ़ाना है। लेकिन उनके अन्य रसों की जो उत्कृष्ट प्रस्तुति है, उनकी महत्ता को नकारा नहीं जा सकता। अनेक विद्वानों का मानना है कि भारतेन्दु की नाट्यकृतियों में श्रृंगार व हास्य रस की अधिक प्रयोजनाएँ हुई हैं, वह समस्त जनों को प्रेम व स्नेह तथा आनन्द व विनोद में तन्मय करके अपनी विचारशीलता को प्रस्तुत करते थे, ताकि जन–जन उनकी गहन से गहनत्तर बातों को सहजता से समझ जाएँ। अतः इसी बात को ध्यान में रखते हुए डॉ. सत्येन्द्र तनेजा लिखते हैं, ''इन उद्देश्यों को सामने रखते हुए भारतेन्दु के नाटकों का वैज्ञानिक अध्ययन किया जा सकता है। श्रृंगार के अन्तर्गत 'विद्या सुन्दर', 'कर्पूरमंजरी' तथा 'दुर्लभ बन्धु' आते हैं। हास्य एवं प्रहसन में 'अंधेर नगरी' तथा 'प्रेमजोगिनी', समाज संस्कार में 'पाखण्ड विडम्बन', 'वैदिकी–हिंसा हिंसा न भवति', 'धनंजय विजय', 'सत्य हरिशचन्द्र', 'सती प्रताप', तथा 'चन्द्रावली' और देश वत्सल्ता के अधीन 'भारत जननी', 'नील देवी', 'भारत दुर्दशा', 'विषय विषमौषधम' एवं 'मुद्राराक्षस' आते हैं।''[6]

भारतेन्दु ने नाटकों के जिन पाँच उद्देश्यों की चर्चा की है उनको आनन्द और समाज–संस्कार के अन्तर्गत परिगणित किया जा सकता है। वे भी श्रृंगार, हास्य, कौतुक आनन्द आदि की सृष्टि करते हैं। यह देश वत्सलता और समाज संस्कार का ही एक पक्ष है। ऐसा लगता है कि देश की तत्कालीन राजनैतिक एवं सामाजिक स्थिति को देखते हुए ही उन्होंने देशानुराग पर अधिक बल दिया है। उनका निश्चित मन्तव्य है कि देश प्रेम से सम्बद्ध नाटकों के प्रेक्षण से प्रक्षेपों के हृदय में देशानुराग की पावन भावना का स्फुरण होता है। यथा–''देशवत्सल नाटकों का उद्देश्य पढ़ने वालों व देखने वालों के हृदय में स्वदेशानुराग उत्पन्न करना है और ये प्रायः करुण और वीर रस के होते हैं।''[7]

देश की पराधीनता के कारण भारतेन्दु ने देशानुराग सम्बन्धी नाटकों में वीर एवं करुण रस के प्राधान्य पर बल दिया है, क्योंकि देश की परतन्त्र दशा में जनसमूह के उत्साह पर ही देश की स्वतंत्रता की आशा टिकी रहती है। उनके नाटक 'भारत जननी', 'नीलदेवी' और 'भारत दुर्दशा' में नवजागरण के प्रति प्रतिबद्धता, समसामयिक परिस्थिति के चित्रण और विदेशी शासन की दासता में दमनचक्र में दबी भारतीयता और राष्ट्रीयता को सामने लाने की यथेष्ट चेष्टा है।

अतः इसी कारण समाज में राष्ट्रीय भावना और समाजसुधार की प्रवृत्ति मुख्य रूप से फैल चुकी है। भारतेन्दु की नवीन योजना रंगमंच पर प्रस्तुति के प्रयासों से समाज में जागृति फैल रही थी। उन्होंने अपने

नाटकों में तत्कालीन समस्याओं, बाल विवाह, वृद्ध विवाह, स्त्री शिक्षा, रीतिकालीन जड़ता, पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति की कृत्रिमता तथा युद्ध, अंधानुकरण, राजनैतिक व विभिन्न सामाजिक समस्याओं को अभिव्यक्ति दी। साथ ही भारतेन्दु ने विदेशी शासकों का साथ देने वाले उन लोगों को भी कोसा है जो हमारे राष्ट्रीय संग्राम को शिथिल करते आ रहे हैं। इस प्रकार प्रश्न किसी जाति विशेष का नहीं, बल्कि वर्ग विशेष का है। 'नीलदेवी' नाटक में उन्होंने यवनों द्वारा हिन्दुओं का बलात धर्म परिवर्तन का घोर विरोध किया था। अब्दुश्शरीर पर सूर्य देव के थूकने से सम्बन्धित घटना इस बात का प्रमाण है। अतः सोमदेव मुसलमानों के अत्याचारों से आतंकित देशवासियों को सजग करता हुए वीर रस प्रधान पंक्तियों को सुनाता है– "जो आरज एक होई निज रूप सम्हारैं।

तजि गृह कलहहि अपनी कुल मरजात विचारैं।
तौ ये कितने नीच कहा इन को बल भारी।
सिंह जगे कहुं स्वान ठहरिहैं समर संझारी।"[8]

इसी तरह 'भारत दुर्दशा' में भी भारतेन्दु ने अपने ओजशील विचारों का परिचय दिया है, उनकी वीर रस भरी पंक्तियाँ समस्त भारतवासी को जगाने का हौंसला रखती हैं। वह अपने पात्र 'भारत भाग्य' को माध्यम बनाते हैं और भारत के सभी जनों को जागरूक करने के लिए वीर रस से सराबोर पंक्तियों को अभिव्यक्त करते हैं। वे अपने इतिहास की वीरता व भारत की सर्वोच्चता को याद करते हुए प्रत्येक भारतीय में उसी ओज, वीरता व तीव्रता का संचार हुआ देखना चाहते हैं जो कहीं खो गया है। वह उसी शिरोमणि भारत को याद करते हुए कहते हैं–

"भारत के भुजबल रक्षित। भारत विद्या लहि जग सिच्छित।।
भारत तेज जगत विस्तारा। भारत भय कम्पत संसारा।।
जाकैं तनिकहिं भौंह हिलाएँ। थर–थर कम्पत नृप डरपाए।।
भारत किरिन जगत उंजियारा। भारत जीव जिअत संसारा।।"[9]

यही स्थिति 'भारत जननी' नाटक में चित्रित हुआ है। नाटक में भारत माता स्वयं पर हो रहे अत्याचारों से कारूणिक हो जाती है। इसलिए वह स्वयं को सुरक्षित करने के लिए देश के युवाओं से गुहार लगती है। जब उसके कहने पर युवा वर्ग जगते नहीं तो वह पूर्व के विभिन्न शूरवीरों को याद करते हुए उनकी वीरता का स्मरण करती है। उन्हीं की ओजता, तीव्रता, वीरता, शक्ति, जोश, तेज आदि से वह वर्तमान युवा को पुनः–पुनः जगाने का प्रयत्न करती है। भारत माता को विश्वास है कि एक न एक दिन युवा वर्ग जागेगा तथा अपनी गुलामी की जंजीरों को तोड़ता हुआ मुझे भी क्षीण होने से बचायेगा। वह विभिन्न विदेशी शासकों की शोषण नीति के दिये गये जख्मों को कुरेदती हुई वीर रस से भरी हुंकार भरती है–

"पृथ्वीराज जैचन्द कलह करि जवन बुआयो।
तिमिरगंज चंगेज आदि बहु नरन कटायो।।
अलादीन औरंगजेब मिलि धरम नसायो।
विषय वासना दुसह मुहम्मद शह फैलायो।।
तब लौं सोए वत्स तुम, जागे नहिं कोऊ जतन।
अब तो रानी विक्टोरिया, जागहु सुत भय छाड़ि मन।।"[10]

इस तरह भारत माता भारतीय जनता में अपनी ललकार से साहस का बिगुल बजाती है। वह उन्हें पूर्वजों का उदाहरण दे देकर जगाने का पूर्ण प्रयास करती है। ये पंक्तियाँ वीर रस से सराबोर हैं। भारतेन्दु का नाटक 'चन्द्रावती' की कथा कल्पना पर आधारित है। कृष्ण साहित्य में 'चन्द्रावली' का उल्लेज राजा की सखी के रूप में ही मिलता है। उसे कृष्ण की प्रेमिका के रूप में चित्रित करना लेखक की नितान्त मौलिक उद्भावना और अनुपम कल्पना का चमत्कार है। 'चन्द्रावली' के नायक कृष्ण धीर ललित हैं। राजा चन्द्रभानू की पुत्री जो गायन में प्रवीण होने के साथ अनुरागवती भी है, जो कृष्ण के प्रति आसक्त है। नाटक में श्रृंगार रस का प्रमुख रूप से प्रतिपादन हुआ है। इसमें भी विरह का ही आधिक्य है। भारतेन्दु भी रसिक और प्रेमी व्यक्तित्व के सुकवि थे। प्रणय व्यापार की सात्विक अभिव्यक्ति के लिए ही उन्होंने इस नाटक की रचना की। इसमें उन्होंने अपनी कमनीय कल्पना के योग से वस्तु चयन में मौलिक प्रतिभा से काम लिया है। सम्पूर्ण रचना प्रेम रस से परिपूर्ण है। कृष्ण के विरह में चन्द्रावली विभिन्न वृक्षों से अपने प्रियतम का पता पूछती है–

"अहो–अहो वन के रुख कटूँ देख्यों पिय प्यारो।
मेरो हाथ छुड़ाय कहौं वह कितै सिधारो।।
अहो कदम्ब अहो अम्ब–निम्ब अहो बकुल–तमाला।
तुम देख्यौं कहूँ मन मोहन सुन्दर नन्द लाला।।"[11]

भारतेन्दु प्रेम का पूर्ण परिपाक वियोग की अवस्था में ही स्वीकारते हैं। जिस प्रकार कोमल सी कली काँटों के बीच पूर्ण रूप से विकसित होती है, उसी प्रकार प्रेम का मनोरम रूप विरह की शूलों की वेदना के बीच प्रस्फुटित होता है। चन्द्रावली के प्रेम में जो व्याकुलता, तड़पन और उन्माद है उसके अनुभव के पश्चात ही कृष्ण के संयोग की घटना चन्द्रावली के लिए अत्यधिक स्वाभाविक एवं सुखद बन गयी है। समागम होने के पहले ही केवल दर्शन, गुण, श्रवण आदि से अंकुरित होने वाले प्रेम के बाद मिलन तक का वियोग पूर्वराग के अन्तर्गत माना जा सकता है–

" सखी ये नयना बहुत बुरे।
तब सो भये पराए जब से हरिसो जाय जुरे
मोहन के रस बस ह्वै डोलत तलफत तनिक दुरे
मेरी सीख प्रीति सब छाड़ी ऐसे में निगुरे।
जग खीझ्यो बरज्यौ पैये नहिं हठ सों तनिक मुरै।
अमृत भरे देखत कमलन से विष के बुते छुरे।।"[12]

चन्द्रावली अपनी विरह वेदना में इतनी तल्लीन है कि उसकी सखियाँ भी उससे सहानुभूति व्यक्त करती हैं। लेकिन कृष्ण की पत्नी का भय दोनों को दूर रखता है। इसलिए चन्द्रावली के उत्कट प्रेम में स्वाभाविकता, मार्मिकता एवं अनुभूति की सच्चाई विरह रूप में प्रकट होती है। जब दोनों का मिलन होता है और तब उसके प्रेम की व्याकुलता देखकर जोगिन रूप में आया कृष्ण भी द्रवित हो जाता है और प्रेम के आगे विवश होकर वास्तविक रूप में प्रकट होता है तथा विरह का महत्व प्रतिपादित करते हुए कहता है, "मोहि निहचे है के हमारे प्रेमिन को हमसौं हूँ हमारो विरह प्यारों है।"[13]

भारतेन्दु ने हास्य–व्यंग्य के सहारे भी देश के उस नवशिक्षित, महत्त्वकांक्षी, नौकरशाही वर्ग की गूढ़ आलोचना की है, जो विदेशी शासन के प्रति भक्ति प्रदर्शन कर पद, यश, सम्मान तथा उपाधियों की प्राप्ति के लिए लालायित था। उन्होंने उन तथाकथित समाज सुधारकों और बुद्धिजीवियों की खिल्ली उड़ाई जो इस भय से कि कहीं उन पर राजद्रोह का आरोप न लग जाये, वे देश की उन्नति के लिए आवश्यक सामाजिक और प्रशासनिक सुधारों की माँग करने का साहस नहीं रखते थे। भारतेन्दु ने ज्यादातर हास्य–व्यंग्य के माध्यम से ही विदेशी शासन द्वारा भारतीय जनता पर भारी टैक्स लादने और देश के आर्थिक शोषण की नीतियों तथा उनकी अन्याय और भेदभावपूर्ण प्रशासनिक और न्यायिक व्यवस्था का विरोध किया। 'नीलदेवी' नाटक में पागल के रूप में वसंत का अभिनय अत्यन्त ही हास्योत्पादक है–"मार मार अण्ड का बण्ड का बण्ड का सण्ड का खण्ड धूत–छाह, चना–मोती, अगहन–पूस–माघ, कपड़ा–लता, चमार–मार–मार, ईट की आँख में हाथी का वान, बन्दर की थैली में चूने की कमान। मार–मार...........।"[14]

उपर्युक्त उदाहरण का कोई विशेष सन्देश नहीं है, लेकिन कवि पागलों के इस अभिनय को रंगमंच पर इतनी सहजता से उतारते हैं कि दर्शक हंसी के बिना रह नहीं सकते। अतः पागलों के प्रलाप, हरकत, बहकूफीपन पर भला कौन नहीं हंसता। भारतेन्दु के निकट धार्मिक या सम्प्रदायगत दम्भ, अन्धविश्वास और असहिष्णुता से ग्रस्त कट्टरपंथी तथा पुनरूत्थानवादी जो किसी भी नई चीज को स्वीकार करने के पूर्व उसे वेदों के भीतर से निकाल लेना चाहते थे, वे हास्य व व्यंग्य के ही पात्र थे। भारतेन्दु का हास्य–व्यंग्य उनकी गहरी और व्यापक राष्ट्रीय चेतना, उदार दृष्टिकोण और प्रगतिगामी सामाजिक विचारों के सिक्के का ही दूसरा पहलू है। उनके नाटक 'पाखण्ड–विडम्बन', 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', 'अंधेर नगरी' आदि प्रसिद्ध प्रहसन हैं। 'अंधेर नगरी' में भारतेन्दु ने एक पुरानी लोक कथा के माध्यम से पूरे अंग्रेजी शासक की खिल्ली उड़ाई है। अंधेर नगरी के बाजार में कबाब वाला, नारंगी वाला, चने जोर गरम वाला, हलवाई, फल–मेवे, पाचक मछली, बनिया वाला आदि सभी हमारे चिर–परिचित हैं, लेकिन उन्हें राजनीतिक और सामजिक बोध से जोड़कर भारतेन्दु ने प्रहसन को यथार्थवादी मोड़ दिया है। चने जोर वाला घासीराम अंग्रेजी शासन की टैक्स नीति पर कटाक्ष करता हुआ कहता है–

''चना हाकिम सब जो खाते। सब पर दूना टैक्स लगाते।
चूरन अमले सब जो खावै। दूनी रिश्वत तुरत पचावै।
चूरन साब लोग जो खाता। सारा हिन्द हजम कर जाता।।''[15]

अपनी जनवादी और यथार्थवादी प्रवृत्ति के कारण भारतेन्दु के नाटकों में अनेक विशेषताओं को हास्य व व्यंग्य रस के रूप में प्रस्तुत किया गया है। 'वैदिकी हिंसा–हिंसा न भवति' में लोट–पोट कर देने वाला हास्य है। इसमें भारतेन्दु ने मांस–मदिरा भक्षकों पर करारा व्यंग्य कसा है। किस प्रकार दुर्व्यसनी लोग अपनी लोलुप जिह्वा को तृप्त करने के लिए शास्त्रों और धर्म के प्रमाण दिया करते हैं। इस प्रहसन का उदाहरण– **''बढ़े जाइयो। कोटिन लवा बटेर के नाशक, वेद धर्म प्रकाशक मंत्र से युद्ध करके बकरा खाने वाले, दूसरे के मांस से अपना मांस बढ़ाने वाले, सहित सकल समाज श्री गृद्ध राज महाराजा धिराज।''[16]**

भारतेन्दु के उपर्युक्त समस्त उद्वरणों से प्रतीत होता है कि वे रस सिद्ध कवि की भूमिका में अपना एकनिष्ठ स्थान स्थापित करते हैं। उनकी रस योजना के कारण उनके सभी नाटकों का उद्देश्य सफल सिद्ध होता है। उनके नाटकों का आधार बिन्दु ही रस है जिसमें दर्शकों का बह जाना एक सामान्य सी बात है। प्रो. जयनाथ नलिन का उनकी रस योजना पर कथन उचित बैठता है–**''भारतेन्दु जी रस सिद्ध साहित्य निर्माता थे। प्रेम की स्वच्छ धारा उनकी लेखनी से प्रसूत हुई करूणा की बात बदली बनकर उनका हृदय बरसा, श्रृंगार की रस भीगी पिचकारियाँ उनके हाथों से छूटी और हास्य की गुदगुदी भरी फुलझड़ियाँ भी भारतेन्दु जी ने छोड़ी। हास्य व्यंग्य के वे सिद्धहस्त लेखक थे।''[17]**

इन सभी रसों में भारतेन्दु अवश्य ही पारंगत थे। लेकिन इनके साथ ही वह भक्ति रस में भी लीन हुए बिन न रह सके। वे अपनी राग–केन्द्रित भक्ति परक रचनाओं में कई भूमियों पर संचरण करते हैं। भक्ति की ओर मुड़ने वाले द्रवशील अन्तःकरण के व्यक्ति का अन्तस भक्ति विरोधी वासना की प्रबलता देखकर खिन्न होता है, तथा स्वयं ही ग्लानि का अनुभव भी करता है। यह स्थिति सत्व सम्पन्न हृदय में ही उत्पन्न होती है और भारतेन्दु इस सत्व से आींादित हैं–

''प्रभु हौं कब लौं नाच नचै हों?
अपनै जन के निलज तमासे कब लौ जगहिं दिखै हौं?
छिन–छिन बूड़न जात पंक लारने मोहिं कब चित्त दवै हौं?
जनम–जनम के निजहारि चंदहि मन फिर कै अपनै हौं?[18]

भारतेन्दु के नाटकों में लोक–संस्कार की अनेक दिशाएँ हैं। यथा स्वार्थ, त्याग, दुख का बहिष्कार, भक्ति में प्रवृत्ति, वेद सम्मत मार्ग पर अग्रसर होना आदि भारतेन्दु ने अप्रत्यक्ष रूप में लोक–संस्कार के इन्हीं पक्षों का निरूपण किया है। उनकी भक्ति में आत्मनिवेदन और दैन्य का भावातिरेक पूर्ण स्वर द्रष्टव्य है। उनकी भक्ति सुलभ तन्मयता का परिचय देती है–

''वृन्दाबिपिन बिहार सदा सुख सों थिर होई।
जल बल्लभी कहाइ भक्ति बिन्दु होइ न कोई।।
जगजाल छाड़ि अधिकार लहि कृष्ण चरित सब ही कहै।
यह रतन–दीप हरि–प्रेम को सदा प्रकासित जग रहै।।''[19]

स्पष्ट है कि भारतेन्दु ने समाज में फैली कटुताओं का नाटक के माध्यम से उन्मूलन करने पर पर्याप्त बल दिया है। साथ ही उन्होंने भक्ति की सिद्धि की भी चर्चा की है। इस नाट्य फल की प्राप्ति भक्ति रस सम्बन्धी नाटक को प्रत्यक्ष देखकर ही सम्भव होगा। अतः इसी नाट्य फल को लोक संस्कार के अन्तर्गत समाविष्ट किया जा सकता है, क्योंकि भक्ति भी वस्तुतः लोक की उच्च मानसिक वृत्तियों में से एक है। भारतीय नाट्यशास्त्र के अनुसार रस को प्रमुखता प्रदान की गयी है। प्रत्येक नाटक में कोई न कोई रस अंगी रूप से रहता है और दूसरे रस भी अंग रूप में आ सकते हैं। लेकिन भारतेन्दु को एक ही नाटक में विरोधी रसों का उपयोग मान्य नहीं है। उन्होंने रसों के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए कहा है कि, **''नाटक रचना में विरोधी रसों को बहुत बचाना चाहिए। जैसे श्रृंगार के हास्य, वीर विरोधी नहीं किन्तु अति करुण, वीभत्स, रौद्र, भयानक और शान्त विरोधी हैं, तो जिस नाटक में श्रृंगार रस प्रधान अंगीभाव से हो उसमें ये न आना चाहिए।''[20]**

अतः विरोधी रसों के समावेश से मुख्य रस के पूर्ण उत्कर्ष में बाधा उपस्थित होती है, उसके सौन्दर्य को हानि पहुंचती है तथा अखण्ड रसानुभूति खण्डित हो जाती है। नाटककार का अभिप्राय ऐसे मानसिक आनन्द से होता है जो सामाजिक की चित्तवृत्तियों को समाहित कर लें। सज्जनों के देखने सुनने के योग्य विनोद के अभाव से इस स्थिति पर प्रकाश पड़ता है कि भारतेन्दु युग में जनसाधारण का मनोरंजन करने वाले पारसी नाटक तो विद्यमान थे, किन्तु शिक्षित एवं परिष्कृत अभिरूचि के व्यक्तियों के मनोरंजन का ऐसा कोई माध्यम नहीं था। अतः भारतेन्दु ने ऐसे मनोरंजनपूर्ण नाटकों की रचना की जिनके अनुशीलन से सभी का ह्रदय आींादित हो सके। उन्होंने रसास्वादन के स्थूल स्तर को लक्षित करके नाटक के प्रेक्षण से प्राप्त ऐसे आनन्द पर बल दिया जिसके द्वारा सज्जनों की मनस्तुष्टि हो।

निष्कर्ष :—

निष्कर्षतः भारतेन्दु ने रस को नाटक की आत्मा के रूप में मान्यता देकर रूढ़ि प्राप्त सिद्धान्त का पुनरावर्तन किया है। उनकी रस विषयक विचारधारा भी मौलिक है। उन्होंने परिपाटी विधित अष्ट रसों के अतिरिक्त अपने मौलिक रसों को उसमें जोड़कर संस्कृत नाट्यशास्त्र को विकसित किया है। भारतेन्दु नाटक का सजीव आधार रस को ही स्वीकार करते हैं। भारतीय पौराणिक शास्त्रों में भी नाटक की सफलता रसास्वादन कराने की शक्ति में परखी जाती है, परन्तु भारतेन्दु का समय नवोत्थान का था। समाज की दुर्दशा देखकर उनके प्रेमी ह्रदय को मार्मिक चोट पहुँची थी। इसलिए उन्होंने रंगमंच के माध्यम से सम्पूर्ण जीवन्त प्रस्तुति देकर प्रत्येक भारतीय जन को देशभक्ति की विचारधारा से सराबोर कर दिया तथा उन्हें प्रेम की गहन अनुभूति से भी परिचित कराया। नाटककार का अभिप्राय यही है कि दर्शक के ह्रदय को रसप्लावित करने में ही नाट्यकृति की आत्यंतिक सार्थकता निहित है। उनकी सोच ऐसे मानसिक आनन्द से है जो सामाजिक की चित्तवृत्तियों को समाहित कर सके और अभिनय के माध्यम से सह्रदयों को रसास्वादन की स्थिति तक पहुँचा सकें। अतः इस स्थिति की पूर्ति के लिए सामयिक रसों का उपयोग उचित है विरोधी रसों का नहीं। इसलिए उन्होंने नाटक को रसानन्द का सर्वोत्तम साधन माना है। अतः कहा जा सकता है कि उक्त नाट्य प्रयोजन के विषय में भारतेन्दु का मत युगानुरूप सामाजिक चेतना की भावना से प्रेरित है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

(1) hi.m.wikipedia.org
(2) भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : कर्पूरमंजरी, पृ.सं. 2, प्रकाशक—मल्लिकचन्द्र और कम्पनी, बनारस, तृतीय संस्करण, 1939
(3) भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : श्री चन्द्रावली नाटिका, पृ.सं. 94, विश्वविद्यालय प्रकाशन, गोरखपुर प्रथम संस्करण, 1953
(4) डॉ. निर्मला हेमन्त : आधुनिक हिन्दी नाट्यकारों के नाट्य सिद्धान्त, पृ.सं. 46, अक्षर प्रकाशन प्रा. लि., दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1973
(5) डॉ. निर्मला हेमन्त : आधुनिक हिन्दी नाट्यकारों के नाट्य सिद्धान्त, पृ.सं. 52
(6) डॉ. निर्मला हेमन्त : आधुनिक हिन्दी नाट्यकारों के नाट्य सिद्धान्त, पृ.सं. 57
(7) डॉ. निर्मला हेमन्त : आधुनिक हिन्दी नाट्यकारों के नाट्य सिद्धान्त, पृ.सं. 59
(8) भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : नीलदेवी, पृ.सं.69,70, राजेश प्रकाशन, कृष्णनगर, दिल्ली संस्कारण, 1977
(9) भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : भारत दुर्दशा, पृ.सं. 72, 73, प्रकाशन—इंडियन पब्लिशिंग हाउस, जयपुर संस्करण, 2008
(10) स. मिथिलेश पाण्डेय : भारतेन्दु ग्रन्थावली खण्ड—2, पृ.सं. 314, नमन प्रकाशन, नई दिल्ली प्रथम संस्करण, 2008
(11) डॉ. रामकुमार गुप्त : आधुनिक हिन्दी नाटक और नाट्यकार, पृ.सं. 16, प्रकाशक—कुंजबिहारी लाल पचौरी, एम.कॉम. जवाहर पुस्तकालय, मथुरा, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, 1973
(12) डॉ. प्रेम नारायण शुक्ल : भारतेन्दु की नाट्य कला, पृ.सं. 176, प्रकाशन —ग्रन्थम रामबाग, आराधना प्रेस, कानपुर, द्वितीय संस्करण, 1972
(13) डॉ. सुशीला धीर : भारतेन्दुयुगीन हिन्दी नाटक, पृ.सं. 96, प्रकाशन—मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी,

भोपाल, प्रथम संस्करण, 1971
(14) भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : नीलदेवी, पृ.सं. 64
(15) भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : अंधेर नगरी, पृ.सं. 17, 18, कमल प्रकाशन, नई दिल्ली
(16) डॉ. रामकुमार गुप्त : आधुनिक हिन्दी नाटक और नाट्यकार, पृ.सं. 05
(17) डॉ. रामकुमार गुप्त : आधुनिक हिन्दी नाटक और नाट्यकार, पृ.सं. 05
(18) सं. शम्भुनाथ अशोक जोशी : भारतेन्दु और भारतीय नवजागरण, पृ.सं. 109, प्रकाशक– आने वाला कल प्रकाशन, कलकत्ता, प्रथम संस्करण
(19) भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : श्री चन्द्रावली नाटिका, पृ.सं. 98
(20) भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : नाटक, पृ.सं. 36, प्रकाशन–विश्वविद्यालय परीक्षा बुक डिपो, प्रयाग, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, 1941